

नागार्जुन के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना

शोभा बिसेन

शोधार्थी हिंदी (तुलनात्मक साहित्य)

महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

शोध संक्षेप

साहित्यिक परिस्थितियों की उन्मुक्तता साहित्य का वैशिष्ट्य नहीं वरन् साहित्य की अग्रिम अन्विति की मांग है। चूँकि कोई भी साहित्य (रचना) जो अपने समय के साथ नहीं जुड़ता वह सही मायने में सफल साहित्य नहीं हो सकता। समय के साथ जुड़ना यानी अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों से जुड़ना, उन्हें समझना, परखना। बाबा नागार्जुन की गिनती ऐसे ही उपन्यासकारों में होती है। प्रस्तुत शोध पत्र में बाबा नागार्जुन के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना को रेखांकित किया गया है।

प्रस्तावना

बाबा नागार्जुन अपने समय की परिस्थितियों की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर समझ रखने वाले पारखी रचानाकार (साहित्यकार) हैं। मूलतः तो बाबा नागार्जुन कवि रूप में प्रसिद्ध रहे हैं किंतु उनका कथा साहित्य भी कम समृद्ध नहीं रहा है। यह अलग बात है कि शायद उनके कथा साहित्य का अपने समय में सही मूल्यांकन नहीं हो पाया हो या उनके उपन्यास उस परंपरागत ढांचे में फिट न बैठे हों जैसे कि सामान्यतः साहित्यिक क्षेत्र में मांग होती है। बहरहाल! बाबा नागार्जुन ने अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, ग्रामीण क्षेत्रों में होने वाली परिस्थितिगत उथल-पुथल को बहुत करीब से देखा, जाना व समझा तथा उन चीजों को अपनी रचनाशीलता के माध्यम से सामने लाए। उन्होंने अपने उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश को, वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों व ग्रामीण लोगों में आई राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्त किया है। यह अलग बात है कि ग्रामीण अंचल एवं विशेषतः मिथिलांचल का अधिकाधिक चित्रण उपन्यासों में होने के कारण उन्हें आंचलिकता से जोड़कर रेणु की परंपरा का सिद्ध कर दिया जाता है। तो दूसरी ओर ग्राम्य समाज,

ग्रामीण जनता, दीन-दुःखी जन व शोषक— शोषित इत्यादि का चित्रण करने के कारण प्रेमचंद की परंपरा से जोड़ दिया जाता है। लेकिन उनके उपन्यासों को पढ़कर लगता है कि उन्होंने किसी परंपरा का अनुसरण न करते हुए अलग ढंग से उपन्यासों के माध्यम से अपनी बात में कही है। उन्होंने अपने समय की देश-काल गत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों को गाँवों से जोड़कर विश्लेषित किया है। क्योंकि वह समय ऐसा था जब देश पराधीनता से स्वाधीनता के लिए हो रही जद्दोजहद से गुजर रहा था। स्वाधीनता के बाद अवसरवादी नेताओं के राजनीतिक दांव-पेंचों में उलझा हुआ था, जिसके चलते आजादी के बाद भी ग्रामीण अशिक्षित जन व मजदूर वर्ग आजादी नहीं प्राप्त कर सके तथा बड़े जमींदारों व पूंजीपतियों द्वारा, यहां तक कि अवसरवादी नेताओं द्वारा भी लगातार शोषित हो रहे थे। ग्रामीण समाज में आजादी तो कहीं दूर तक दिखाई भी नहीं पड़ती थी। किंतु इन सबके बीच भी कुछ ऐसे लोगों का समूह उभर रहा था जिन्होंने इन सारी चीजों को समझा और शोषण के खिलाफ, अपने अधिकारों के लिए आवाज बुलंद की। इन सारी चीजों को उस

समय के पारखी साहित्यकारों ने अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है। चूँकि “उठती हुई जनता का साहित्य अनिवार्यतः एक बड़े अंश में राजनीति से प्रभावित होगा, इसलिए कि राजनीति जनता के उत्थान का आवश्यक माध्यम है।”¹ जब कोई व्यक्ति परिवार, समाज, गाँव, प्रदेश या देश से जुड़ जाता है तो उसका जुड़ाव देश की राजनीति से होना भी स्वाभाविक है। फिर उसका कोई अलग अस्तित्व न होकर वह परिवेशगत संबंधों में निहित हो जाता है। बाबा नागार्जुन भी बतौर साहित्यकार ऐसे व्यक्ति हैं जिनका अस्तित्व ग्राम, समाज व देश की राजनीति से जुड़ा रहा है। जिसका स्वरूप हमें उनके रचनात्मक साहित्य में दिखाई देता है। उन्होंने जीवन्त पात्रों के माध्यम से बड़ा ही सजीव चित्रण अपने उपन्यासों में किया है।

उपन्यासों में राजनीतिक चेतना

बाबा नागार्जुन का उपन्यास ‘बलचनमा’ 1952 में प्रकाशित रचना है जिसका मुख्य पात्र बलचनमा (बालचंद) है, जो एक मध्यवर्गीय परिवार का लड़का है। किंतु जमींदारों की पिटाई द्वारा पिता की असमय मृत्यु के पश्चात् उसे बचपन में ही उन्हीं जमींदारों के यहाँ काम करना पड़ता है। बाद में फूल बाबू की सेवा के लिए पटना में रहकर तथा राधा बाबू जैसे देशभक्तों के संपर्क में आकर वह थोड़ा बहुत देश की राजनीति से परिचित होता है। बाद में “अन्याय और शोषण की चक्की में पिसकर बलचनमा यह सीख जाता है कि बाबू भैया को उससे कोई सहानुभूति नहीं हो सकती है। अपनी सारी तथाकथित राजनीतिक चेतना के बावजूद वह उस वर्ग का व्यक्ति है, जो शोषण को अपना अधिकार मानकर चलता है। वह कहता है—‘सच जानो भैया, उस वक्त मेरे मन में यह बात बैठ गई कि जैसे अंग्रेज बहादुर से सोराज लेने के

लिए बाबू भैया लोग एक हो रहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा रहे हैं, उसी तरह जन-बनिहार, कुली-मजूर और बाहिया-खवास लोगों को अपने हक के लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा।”² अपनी ग्रामीण साधारणता के बावजूद अपने जीवनगत अनुभवों की अग्नि में तपकर बलचनमा के अंदर यह क्रांतिकारी चेतना जागृत होती है। तथा अंत में वह कहता है, “अब मेरी समझ में आ गया कि मिनिस्टर का क्या मतलब होता है। स्वामी जी ने कहा था कि जमींदार लोग कांग्रेसी बन के किसानों को ठगते फिरते हैं। मेरा माथा ठनका कि ये ही जब मिनिस्टर हो जायेंगे तो गरीबों की भलाई होगी इनसे कि बड़े-बड़े बाबू लोगों की!”³ इस प्रकार कांग्रेसियों से उसका मोह भंग हो जाता है और वह सोशलिस्ट पार्टी के पक्ष में हो जाता है। चूँकि “उन दिनों सोसलिस्टों में बड़ी गर्मी थी भैया! वे जो कुछ कहते, उसे करने की भी कोशिश उनकी ओर से होती थी। मजूरों की हड़ताल हो, चाहे किसानों का आंदोलन – सोसलिस्ट भाई उसमें आगे बढ़कर हिस्सा लेते थे।”⁴ इस तरह सोशलिस्ट पार्टी से जुड़कर बलचनमा शोषितों के खिलाफ युद्ध में एक जुझारू के रूप में सामने आता है।

नागार्जुन का एकमात्र ऐसा उपन्यास ‘बाबा बटेसरनाथ’ है जो व्यापक कालखंड को अपने में समेटता है। नागार्जुन ने सामाजिक, राजनितिक और आर्थिक आदि परिवर्तनों की एक लम्बी प्रक्रिया की जद्दोजहद को (सामंतवाद से लेकर धार्मिक आडंबर, सामाजिक रूढ़ियां और कुरीतियां आदि तक) कथा में पिरोने का प्रयास किया है। ‘बाबा बटेसरनाथ’ में नागार्जुन ने एक वट वृक्ष को उपन्यास का नायक बनाया है। वह वट वृक्ष सैकड़ों साल पुराने क्षेत्र की उथल-पुथल, उत्पीड़न व संघर्ष की गाथा जैकिसुन को

सुनाता है, तथा हाल-फिलहाल की सरकारी शोषण नीति व राजनीतिक दांव-पेंचों का भंडाफोड़ करता है। बाबा बटेसरनाथ जैकिसुन से कहता है—“तेरी यह आजाद सरकार इन सामंती श्रीमंतों को ज्यादा से ज्यादा हरजाना देने की तिकड़म भिड़ा रही है। व्यक्तिगत संपत्ति के वाजिब हकों का दायरा बेहद बढ़ाकर जमींदारी प्रथा का यह जो नकली श्राद्ध कांग्रेस कर रही हैं, क्या नतीजा निकलेगा इसका ?”⁵ बाबा नागार्जुन के उपन्यासों के पात्र ग्रामीण व अशिक्षित होने के बावजूद उनमें इतनी तो चेतना है कि वे समझ सकें कि देश का व उन लोगों का शोषण करने वाला शत्रु कौन हैं ? तथा उन्हें किस ढंग से लड़ाई लड़नी चाहिए।

‘वरुण के बेटे’ उपन्यास में बाबा नागार्जुन ने मछुआ समाज के रहन-सहन, कार्य-व्यापार का चित्रण किया है। साथ ही उसमें भी कम्युनिज्म व सोशलिज्म को अभिव्यक्त करना वे नहीं भूले हैं, जिसके प्रभाव स्वरूप ही उनके अशिक्षित पात्रों में नई राजनीतिक चेतना का विकास दिखाई देता है। इस उपन्यास में मोहन मांझी एक कम्युनिस्ट नेता है, जो कि मछुवारों को सुदृढ़ संगठन व एकता के लिए जोर देता है। तथा उन्हें समझाते हुए कहता है— “जात-पात की पुरानी दीवारें ढह रही हैं, नए प्रकार की विशाल बिरादरी उनका स्थान ले रही है। एकता का यह आलोक देहातों में भी प्रवेश कर चुका है।”⁶ इस उपन्यास में मोहन मांझी जैसे पात्र ही नहीं बल्कि स्त्री पात्र मधुरी की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। मलाही-गोढ़ियारी ग्रामीण क्षेत्र के गढ़पोखर का जब डिप्टी मजिस्ट्रेट मुचलका लिखवाने आते हैं तो न सिर्फ वे लोग अलग-अलग मुचलका लिखने से इंकार करते हैं बल्कि गिरपतारी के लिए मधुरी सबसे पहले पुलिस वेन में जाकर बैठ

जाती है। तथा वेन के पिछले छोर पर खड़े होकर ‘इन्किलाब जिंदाबाद।’ मछुआ संघ जिंदाबाद...हक की लड़ाई जीतेंगे...जीतेंगे, गढ़पोखर हमारा है’ जैसे ओजस्वी नारों की शुरुआत मधुरी ही करती है, जिसे बाद में वहाँ गिरपतारी देख रही खड़ी सारी जनता दोहराती है। अर्थात् नागार्जुन के उपन्यास में केवल पुरुष पात्रों में ही नहीं बल्कि स्त्री पात्रों में भी राजनीतिक चेतना काफी विकसित दिखाई देती है। यह स्त्री चेतना ‘रतिनाथ की चाची’ उपन्यास में भी स्पष्ट दिखाई देती है। रतिनाथ की चाची जो पूरे उपन्यास में शुरु से अंत तक जातीय परिवेश में संस्कारों व धर्म के नाम पर दुःख झेलती है, उसी चाची में ताराचरण के माध्यम से सामाजिक व राजनीतिक चेतना विकसित होती है। वह किसान आंदोलन से हमदर्दी रखते हुए अखबार के लिए वार्षिक चंदा देती है। वह देश के प्रति सर्वस्व समर्पण का भाव रखती है जब किसान संगठित होने लगते हैं, किसानों में यह आवाज बुलंद होने लगती है कि— “कमाने वाला खाएगा, इसके चलते चाहे जो हो”⁷ तथा जब किसान कुटी के निर्माण में गाँव के लोग सामान इकट्ठा करते हैं तो, “उमानाथ की माँ (रतिनाथ की चाची) ने अपना दो साल पुराना कंबल दे दिया। उनके पास दूसरा कंबल भी नहीं था। रतिनाथ ने मना किया तो वह बोली—यह दस का काम है। देश का काम है। गरीबों का यज्ञ है। मेरे पास और है ही क्या, जो दूँगी।”⁸ नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री पात्र अपनी जमीन और परिवेश के प्रति अपेक्षाकृत पुरुष पात्रों से कहीं ज्यादा आगे हैं। इसका सशक्त उदाहरण रतिनाथ की चाची है जो अपने सुख को तिलांजली देकर देश की सेवा करना ज्यादा ठीक समझती है और अपना कंबल किसान कुटी निर्माण कार्य में दे देती है।

उपर्युक्त उदाहरण से एक बात स्पष्ट है कि नागार्जुन अपने उपन्यास के माध्यम से एक ऐसी स्त्री की छवि दिखाने का प्रयास करते हैं जो घर की चारदीवारी में कैद है फिर भी उसके मन में देश व समाज के प्रति लगाव है तथा वर्तमान समस्याओं के प्रति रोष भी है। बाबा नागार्जुन के उपन्यास 'अभिनन्दन' में तो राजनीतिक तथ्यों की भरमार ही है। राजनीति की अभिव्यक्ति से कहीं ज्यादा इसमें राजनीति पर व्यंग्य है। इस उपन्यास में "मंत्री से लेकर संत्री तक, बनिया व्यापारियों से लेकर उद्योगपतियों तक और तथाकथित कवियों से लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं के गठजोड़ से लूट की जो दुनिया आज खड़ी की गई है, उसका बेलाग शब्दों में पर्दाफाश करते हैं नागार्जुन।"⁹ दरअसल इस उपन्यास की सार्थकता इस बात में है कि बाबा नागार्जुन ने जिस बेबाकी से यह उपन्यास लिखा है उससे भारतीय राजनीति, व्यापारियों और उद्योगपतियों आदि की कारगुजारियों का काला चिट्ठा हमारे सामने उपस्थित होता है। आज हमें इस बात पर सोचने को मजबूर होना पड़ रहा है कि हम जिस समाज में रह रहे हैं, जहां की संस्कृति और सभ्यता का ढिंढोरा पीटा जा रहा है वहां इन दकियानूसी लोगों के कारण हमें अपने आप पर ही शर्म आने लगती है। बाबा नागार्जुन ने इस उपन्यास के माध्यम से कई समस्याओं और संस्थाओं को कठघरे में खड़ा करने का प्रयास किया है तथा भारतीय जनमानस की चेतना को जगाने की कोशिश की है। मधुरेश, बाबा के उपन्यासों के कृतित्व के संबंध में लिखते हैं— "नागार्जुन का समस्त औपन्यासिक कृतित्व इस बात की एक बहुत अच्छी मिसाल है कि पात्रों और उनके परिवेश की सही पहचान कैसे किसी लेखक के लिए रक्षा-कवच का काम देती है और किसी भी

कलात्मक कलाबाजी की अपेक्षा, लेखक की जिंदगी की सही और मजबूत पकड़ ही उसे बहुत-सी गलतियों से बचाए रख सकती है।"¹⁰

नागार्जुन का गद्य साहित्य अधिकांशतः ग्राम केंद्रित साहित्य है जिसमें ग्रामीण क्षेत्र के किसान, मजदूर, महिलाओं के जीवन पर उन्होंने बड़ी ही बारीकी से लिखा है। उन्होंने सिर्फ अपनी कविताओं में ही नहीं बल्कि उपन्यासों में (संपूर्ण साहित्य में) सर्वत्र पीड़ित-शोषित वर्ग की पक्षधरता में रचना की है। और न सिर्फ पक्षधरता मात्र में रचना ही की है बल्कि पीड़ित-शोषित वर्ग में राजनीतिक चेतना व क्रांति की ज्योति भी जगाई है। इससे स्पष्ट होता है कि बाबा नागार्जुन की अपनी राजनीतिक समझ कितनी मजबूत रही होगी जो कि उनके उपन्यासों के पात्रों में राजनीतिक चेतना के रूप में विकसित हुई है।

संदर्भ-सूची:

1. साही विजयदेव नारायण, छँठवा दशक, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सं. 2007, पृ. -18
2. मधुरेश, 'नागार्जुन के उपन्यास', वर्तमान साहित्य पत्रिका, मई 2011, पृ.-18
3. नागार्जुन, 'बलचनमा' उपन्यास, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2002, पृ.-163
4. वही, पृ.-146
5. नागार्जुन, 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2000, पृ.-41
6. नागार्जुन, 'वरुण के बेटे' उपन्यास, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2007, पृ.-38
7. नागार्जुन, 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 1996 पृ.-85
8. वही, पृ.-85
9. सिन्हा अनिल, 'लोकसिद्ध गद्यकार नागार्जुन', अलाव पत्रिका, जनवरी-फरवरी 2011, पृ.-263
10. गुंजन राम निहाल, 'नागार्जुन : रचना प्रसंग और दृष्टि', नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद, सं. 2002, पृ. -159